प्रार्थना की सार्थकता

दयानन्द भार्गव*

हम किसी भी कार्य को प्रारम्भ करते समय यह सोचते हैं कि इस कार्य के करने से हम बड़े हो जायेंगे। किन्तु वस्तुतः सभी कार्य पूजा हैं। इसलिये किसी भी कार्य का प्रारम्भ प्रार्थना से किया जाना चाहिये। इसका यह अर्थ है कि जो भी कार्य हम करते हैं वह परमात्मा को समर्पित है। परमात्मा को समर्पित कर दिया तो उस कार्य के करने का अहङ्कार विसर्जित हो गया। कर्तृत्व का अहङ्कार विसर्जित कर दिया तो हम कार्य करने के भार से मुक्त हो गये। अब कार्य जैसा भी होगा, वह परमात्मा की इच्छा पर निर्भर है, मेरी इच्छा पर नहीं। मेरी कोशिश तो यही है कि कार्य अच्छा से अच्छा हो पर 'मेरे मन कुछ और है कर्त्ता के कुछ और'। कार्य अच्छा हुआ तो परमात्मा की इच्छा से, अच्छा नहीं भी हुआ तो भी उस की इच्छा से- हरिरिच्छा बलीयसी। (परमात्मा की इच्छा बलवान् है।)

यदि विजय में सफलता है और हार में असफलता है तो हम सफल भी हो सकते हैं, असफल भी हो सकते हैं। सफल-असफल तो हम आये दिन होते ही रहते हैं किन्तु यदि परमात्मा की इच्छा की पूर्त्ति में ही हम अपनी सफलता मानते हैं तो असफलता का प्रश्न ही नहीं होता; परमात्मा की इच्छा तो सदा ही पूरी होती है। वस्तुतः तो यदि कोई ऐसी इच्छा है जिसे मैं अपनी समझता हूँ और वह पूरी हो जाये, तो वह इच्छा भी असल में परमात्मा की ही इच्छा होती है और इसलिये पूरी हो जाती है, किन्तु मैं समझता हूँ कि मेरी इच्छा पूरी हो गयी ! मुसलमान भाई प्रायः हर इच्छा के साथ कहा करते हैं- इंशा अल्ला। अर्थात् यदि परमात्मा की ऐसी इच्छा हुई तो। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अन्तिम समय में पाँच शब्द कहे थे- ''ईश्वर! तेरी इच्छा पूर्ण हो।''

मैं और मेरे युवा मित्र श्री अखिलेश तिवारी जी एक दिन श्री किरीट जी जोशी के सान्निध्य में शान्त भाव से बैठे थे। श्री तिवारी जी ने श्री जोशी से ध्यान करवाने के लिये कहा। श्री जोशी जी पुदुच्चेरी में मदर (मीरा) की देखरेख में वर्षों तक रह चुके थे, सेवानिवृत्त आई.सी.एस. (अँग्रेजों के शासन के आई.ए.एस.) थे, अनेक उच्च पदों पर कार्य कर चुके थे, किन्तु मूलतः आध्यात्मिक पुरुष थे। उन्होंने हम दोनों से कहा- ''**Let Thy will manifest**'' और फिर हम तीनों 10-15 मिनट के लिये मौन बैठ गये, आँखें बन्द करके। तब से मेरे लिये यह एक गुरु-मन्त्र बन गया- '**Let Thy will manifest**''(हे परमेश्वर! तुम अपनी इच्छा को प्रकट होने दो।) इसका अर्थ है हम अपनी ओर से कोई कामना न करें। यही उपनिषद् की जीवन्मुक्ति है, यही श्रीमद्भागवद्गीता की स्थितप्रज्ञता है।

ईश्वर की इच्छा एक-एक तिनके में अभिव्यक्त हो रही है। भारत का एक सामान्य व्यक्ति भी बातों ही बातों में कहा करता है, ''उसकी इच्छा के बिना तिनका भी नहीं हिलता।'' ईशोपनिषद् की पहली पंक्ति कहती है- 'पृथ्वी पर यह सब कुछ ईश्वर द्वारा व्याप्त है' (ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यांजगत्) उसी मन्त्र की दूसरी पंक्ति में कह गया, 'हम जो कुछ भी भोगें, 'यह मान कर भोगें कि यह उसी का दिया हुआ है' (तेन व्यक्तेन भुंजीथाः) अर्थात् मैंने प्राप्त किया, यह अहङ्कार छोड़े और 'यह गिद्धदृष्टि भी छोड़े कि यह सब मुझे मिल जाये, धन है किसका?' (मा गृधः, कस्यस्विद्धनम्?) न कर्म मेरा, न कर्म का फल मेरा।

इस प्रार्थना की मुद्रा में कोई भी कार्य प्रारम्भ करें। मैं लेख लिख रहा हूँ! आप पढ़ रहे हैं। दोनों कार्य परमात्मा की इच्छा से हो रहे हैं- न मेरा लिखना मेरी इच्छा से हो रहा है, न आपका पढ़ना आपकी इच्छा से हो रहा है। धणी जाने, धणी का काम जाने। परमात्मा के लिये इस 'धणी' शब्द का प्रयोग मेरे मित्र डॉ. गुलाब कोठारी किया करते हैं। ईश=स्वामी तो वही है न!!

* सेवानिवृत्त प्रोफेसर, जोधपुर विश्वविद्यालय।

यह सब होने पर भी अहङ्कार, 'मैं करूँगा', और आसक्ति, 'यह मेरा है,' बार बार आ टपकते हैं। यही दुःख का कारण बन जाते हैं- **Resistance is misery** = ईश्वरेच्छा में टाँग अड़ाना ही दुःख है।

लेख के लिखते और पढ़ते समय हर साँस के साथ यह प्रार्थना मन से निकले तो समझें कि लेख लिखना भी सफल हुआ और पढ़ना भी सफल हुआ अन्यथा पढ़े लिखे होने का घमण्ड ही बढ़ेगा। इससे तो न लिखना और न पढ़ना ही अच्छा। समर्पण किया और समर्पण हो गया तो फिर कुछ करने को शेष नहीं रहा-

अब सौंप दिया इस जीवन का सब भार तुम्हारे हाथों में
है जीत तुम्हारे हाथों में, है हार तुम्हारे हाथों में

किन्तु पलक झपकते ही ''मैंने किया,'' ''मैं कर रहा हूँ, ''मैं करूँगा'' का भाव अपना सिर उठा लेता है। अहं=मैं√कृ = करना अर्थात् ''अहं√कृ ही अहङ्कार है। हम जो भी करते हैं उससे अपने अहङ्कार को ही भरते हैं। इस प्रकार जैसे अहं='मैं' पुष्ट होता है, वैसे त्वम्=''तू'' दूर होता जाता है, क्योंकि 'मैं' और 'तू' एक साथ नहीं रह पाते-

मैं हूँ तो हरि नहीं, हरि है तो मैं नाहिं।।
प्रेम गली अति सांकरी ता मैं दो न समाहिं।

इसे इस प्रकार समझें। महात्मा बुद्ध ने कहा था कि अस्तित्व में जो कुछ घटित होता है उसमें पूरे अस्तित्व का योगदान होता है। अस्तित्व का प्रत्येक घटक परस्पर इस प्रकार अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है कि जो अस्तित्व के एक भाग में घटित होता है वह पूरे अस्तित्व से प्रभावित भी होता है और पूरे अस्तित्व को प्रभावित भी करता है; वह पूरे अस्तित्व की शृंखला में एक कड़ी है; जो होता है उसे पूरी शृंखला करती है, कर्त्ता वह पूरी शृंखला ही है, उसकी एक एक कड़ी केवल निमित्त है। पूरा अस्तित्व परमात्मा है, उसका एक अंश हम जीव हैं- ममैवांशो जीवलोके (जीव लोक में मेरा= भगवान् कृष्ण का, ही एक अंश है)। परमात्मा कर रहा है, हम निमित्त बन रहे हैं। जो हो रहा है उसका दायित्व परमात्मा पर, किन्तु हम निमित्त होने पर भी अपने को कर्त्ता मानते हैं, तो इस अज्ञान का दायित्व हम पर है।

लोग पूछते हैं कि परमात्मा ने दुःख क्यों बनाया? दुःख परमात्मा ने नहीं बनाया; दुःख हमने अपने अज्ञान से बनाया है, परमात्मा ने तो उस अज्ञान को दूर करने के लिये शास्त्र का उपदेश दिया।

हमें दुःख से परेशानी है, अज्ञान से परेशानी नहीं है। किन्तु दुःख का कारण तो अज्ञान है; जब तक अज्ञान है दुःख जायेगा नहीं। अज्ञान को दूर करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। उपनिषद् का ऋषि कहता है- ''मैंने उस आदित्यवर्ण महान् पुरुष को जाना जो तमस् के पार है। उसको जानकर ही व्यक्ति मृत्यु का अतिक्रमण (**Transcend**) कर सकता है, और कोई उपाय नहीं है''-

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। यजुर्वेद,31.18

अन्धकार से मुक्त मैं इस आदित्य वर्ण वाले पुरुष को जानता हूँ, उसे जानकर ही मृत्यु से छूट सकते हैं। मुक्ति का और कोई उपाय नहीं है।

यहाँ वैदिक शब्द 'पुरुष' का प्रयोग है। संसार की किसी दूसरी भाषा में ऐसा शब्द नहीं जो 'व्यक्ति' को भी बताये और 'परमात्मा' को भी बताये, 'पुरुष' शब्द ऐसा ही है। वैदिक भाषा में ऐसा शब्द इसलिये बना क्योंकि वेद में 'जीव ही ब्रह्म है'- जीवो ब्रह्मैव नापरः।

अज्ञान कारण है, दुःख कार्य है। कारण सूक्ष्म है, कार्य स्थूल है। सूक्ष्मदर्शी अज्ञान की चिन्ता करते हैं। स्थूल दृष्टि वाले दुःख की चिन्ता करते हैं। अज्ञान ज्ञान से ही दूर होता है

जब तक अज्ञान है, तब तक दुःख है क्योंकि दुःख का कारण उपस्थित है।

वेद के तीन काण्ड हैं- (*i*) कर्म ब्राह्मण ग्रन्थों का विषय है, (*ii*) उपासना आरण्यक का विषय है; (*iii*) अन्त में ज्ञान आता है जो उपनिषदों का विषय है। यह अन्त में आया इसलिये इसे वेदान्त भी कहते हैं।

उपनिषदों के प्रारम्भ में कहीं प्रार्थना (*i*) शारीरिक स्वास्थ्य के लिये है क्योंकि कर्म के लिये शारीरिक स्वास्थ्य ही मुख्य है, (*ii*) कहीं प्रार्थना रक्षा के लिये है; ऐसी प्रार्थना उपासक अर्थात् भक्त किया करते हैं और (*iii*) कहीं मङ्गलपाठ ज्ञानी का है जिसे किसी प्रकार की याचना करने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। तीनों प्रकार की प्रार्थनाओं के एक एक उदाहरण को दृष्टिगत करना उचित होगा। ये तीनों उदाहरण उपनिषदों से ही लिये गये हैं।

स्वास्थ्य के लिये कर्मयोगी की प्रार्थना

प्रार्थना का एक स्वरूप यह भी है कि हमारा शरीर, मन और इन्द्रियाँ इतने स्वस्थ हों कि वे संसार का वह वास्तविक स्वरूप देख सकें, जो ब्रह्म है। ये सब उपकरण हैं और धर्म के साधन हैं- *शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्* (शरीर धर्म का प्रथम साधन है) 'शरीर धर्म का पहला साधन है' किन्तु ये मैं नहीं हूँ। यह प्रार्थना एक कर्मयोगी की है जिसे कर्म करने के लिये स्वस्थ शरीर, मन और इन्द्रियाँ चाहिए। प्रार्थना का स्वरूप यह है- *ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु*-(यह प्रार्थना केनोपनिषद् के प्रारम्भ में है।) अर्थात् ''मेरे अंग तृप्त हों। वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, और सारी इन्द्रियाँ बलशाली हों। ब्रह्म उपनिषदों का विषय है। मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ, ब्रह्म मेरा निराकरण न करे। निराकरण न हो, निराकरण न हो। मैं आत्मा में रत हूँ। उपनिषदों में जो धर्म हैं वे मुझ में हों, वे मुझ में हों।'' यदि इन्द्रियाँ घोड़े बन कर बुद्धि रूपी सारथी द्वारा मन की लगाम के नियन्त्रण में रहें तो ये जीवन के रथ को अपने लक्ष्य तक पहुँचा देती हैं।

बिना वासना इन्द्रियों द्वारा विषयों का भोग

कठिनायी इसमें नहीं है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का भोग करें, किन्तु उस भोग के पीछे वासना नहीं होनी चाहिये। वासना न इन्द्रियों में है न इन्द्रियों के विषयों में है। आँख सौन्दर्य को देख रही है किन्तु आँख उस सौन्दर्य के प्रति आसक्ति पैदा नहीं करती, आसक्ति पैदा मन करता है। मन उस सौन्दर्य को स्वायत्त करना चाहता है, हस्तगत करना चाहता है उसे अपना परिग्रह बनाना चाहता है। इच्छा मन को तो विकृत करती ही है, सौन्दर्य को भी दूषित कर देती है। विकृत मन उस पर स्वामित्व चाहता है। वह सौन्दर्य का दर्शन कभी नहीं कर पाता। विकृत मन सौन्दर्य को भी वासना में रंग कर सारी प्रक्रिया को दुःख का कारण बना देता है। वासना से रंगे सभी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध दुर्गन्धित हो जाते हैं। वासना न हो तो ये सब परमात्मा के विविध रूप हैं, परमात्मा की उपासना के साधन हैं, अन्यथा हमारे सत्यस्वरूप को बुरी तरह ढक देने वाले आवरण हैं। बिना वासना के इन्द्रियों के सब विषय उस कला को जन्म देते हैं जो परमात्म-दर्शन का साधन बनती है। इसलिये कला को हमने इतना महत्त्व दिया कि परमात्मा को ही कवि कह दिया- *कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः*। (वह सर्वव्यापक स्वयम्भू मनीषी कवि है।) वेद भी अपने को काव्य कहता है- *पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति*। (देव के इस काव्य को देखो जो न मरता है न बूढ़ा होता है।) हम सब स्रष्टा की कविता हैं। पूरी सृष्टि उसकी कविता है, रस से परिपूर्ण है, बशर्ते कि हम उसे अपनी वासना से दुःखमय न बना दें। वासना का अर्थ है कि हमने सृष्टि के केन्द्र में उसे नहीं रखा जो सृष्टि का स्रष्टा है, अपितु केन्द्र में अपने को रख लिया। हमने चाहा कि मैं समस्त भोगों को भोगूँ किन्तु वासना के कारण हम वस्तुतः किसी भी भोग को नहीं भोग पाये।

उपनिषद् की प्रार्थना का मर्म यह है कि हमारी इन्द्रियाँ इतनी शुद्ध और स्वस्थ हों कि आँख जब फूल के सौन्दर्य को देखे तो उसे फूल कुछ पंखुड़ियों का पुंज दिखायी न देकर ब्रह्म ही दिखायी दे क्योंकि उस फूल में भी ब्रह्म ही तो अभिव्यक्त हुआ है। इसे ही दिव्य दृष्टि कहा जाता है। किन्तु जब आँख के साथ मन की वासना जुड़ जाती है, भोग की कामना जुड़ जाती है, तो उस फूल को तोड़कर सूँघने की आक्रामक तथा हिंसक वृत्ति फूल में उपस्थित ब्रह्म का दर्शन नहीं करने देती। तब हम पदार्थ-मात्र में ब्रह्म का दर्शन न करके पदार्थ को अपनी वासना की पूर्त्ति का साधन समझ लेते हैं, द्रष्टा-ज्ञाता न रह कर, कर्त्ता-भोक्ता बन जाते हैं। एक दृष्टि में पदार्थ भी ब्रह्म दिखता है। दूसरी दृष्टि में ब्रह्म भी पदार्थ दिखता है।

एक प्रार्थना भक्त की

किन्तु जब तक ज्ञान न हो तब तक भक्ति है जिसे मध्यमीमांसा कहा गया है। यही उपासना भी है। कर्म पूर्वमीमांसा है, ज्ञान उत्तरमीमांसा है, उपासना दोनों के बीच में है, इसलिये यह मध्यमीमांसा है।

एक प्रार्थना भक्त की है -

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।।

(यह प्रार्थना कठोपनिषद् के प्रारम्भ में है।)

अर्थात् ''ॐ हम दोनों (गुरु-शिष्यों) की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों (गुरु-शिष्यों) का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों (गुरु-शिष्य) साथ-साथ शक्ति को प्राप्त करें। हम दोनों (गुरु-शिष्यों) की अधीत विद्या तेजस्वी हो। हम दोनों (गुरु-शिष्य) द्वेष न करें।''

यह मध्यमीमांसा (भक्ति) की स्थिति है। उपासना चल रही है, तब गुरु और शिष्य दोनों एक ही धरातल पर खड़े हैं। इसलिये जो प्रार्थना एक की है, वही दूसरे की भी है। रक्षा की प्रार्थना शिष्य की ही नहीं, गुरु की भी है। गुरु भी इस अभिमान में नहीं है कि उसे तो किसी की सहायता नहीं चाहिये। अस्तित्व का सहयोग तो उसे भी चाहिये ही। भक्त के लिये परमात्मा माता-पिता हैं। वे पालनहार भी हैं। पुरुषार्थ शिष्य को ही नहीं गुरु को भी करना है। संसार के झकोले दोनों के लिये समान हैं। गुरु-शिष्य दोनों मिलकर खोज रहे हैं। ऐसा भ्रम नहीं है कि गुरु को तो मिल ही गया है, अब शिष्य खोजे। गुरु सदा साधक रहता है, सिद्ध होने का गुमान कभी नहीं करता। जब गुरु और शिष्य समान धरातल पर हैं तो इसकी पूरी सम्भावना है कि वे एक दूसरे की कमियाँ देखने में ही अपनी शक्ति खर्च कर दें। इसलिये प्रार्थना है कि वे एक दूसरे से द्वेष न करें। गुरु और शिष्य दोनों अभी मानवशरीर में हैं। उनके व्यवहार में कमी हो सकती है। वे एक दूसरे के दोष न देखें। इतिहास में देखा गया है कि शिष्य भी गुरु के प्रति विद्रोह कर देता है। कल तक जो एक साथ चल रहे थे अब वे एक दूसरे के आमने सामने खड़े हैं, शास्त्रार्थ के लिये तैयार हैं। इसलिये यह बड़ी व्यावहारिक प्रार्थना है कि गुरु-शिष्यों में परस्पर द्वेष न हो।

ज्ञानी का मंगलाचरण

एक मंगलाचरण ज्ञानी का है। वह कुछ भी माँगता नहीं, जो मिला है, उसी में उसे पूर्ण दिखायी दे जाता है-

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

(यह प्रार्थना ईशोपनिषद् के प्रारम्भ में है)

'' ऊँ वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्ण में से पूर्ण ही निकलता है। पूर्ण में से पूर्ण निकाल लें तो जो बच जाता है वह भी पूर्ण ही है। ऊँ शान्तिः शान्तिः शान्तिः!'' हम कृतकृत्य हैं क्योंकि हमारा स्वतः सिद्ध स्वरूप परिपूर्ण है- हम सच्चिदानन्द हैं। यह अहोभाव का विषय है, अहङ्कार का नहीं। अहङ्कार तो तब होता जब हमने इसे अपने पुरुषार्थ से प्राप्त किया होता। तब यह कर्मगम्य होता, किन्तु यह विशुद्ध परम सौभाग्य है कि हम स्वयं ही सच्चिदानन्दरूप हैं।

अनुग्रह का भाव

होता यह है कि जो नहीं मिला है उसके कारण हम जिस तनाव में रहते हैं वह तनाव हमें जो मिला है उसका आनन्द भी नहीं लेने देता। इसके विपरीत जो नहीं मिले की चिन्ता छोड़ देता है उसे जो मिला हुआ है वही आनन्द से भर देता है। वेदान्त कुछ मिलने का उपाय नहीं बताता; मिले हुए के प्रति अनुग्रह का भाव रखना सिखाता है। जब आत्मज्ञान के क्षेत्र में भी कुछ पाने की खोज करने लगते हैं तो हम आत्मज्ञान को नहीं खोज रहे होते, संसार की ही खोज कर रहे होते हैं।

वेदान्त का कुल सार यह है कि अस्तित्व में एक अद्भुत पूर्णता है। उसमें कुछ जोड़ कर उसे बढ़ाया नहीं जा सकता और अस्तित्व में से कुछ निकालकर उसकी पूर्णता को कम भी नहीं किया जा सकता। अस्तित्व में से कुछ निकालकर उसे कहाँ ले जायेंगे? अस्तित्व के अतिरिक्त तो कहीं कोई स्थान है नहीं जहाँ अस्तित्व से कुछ निकालकर रख दिया जाये। इसी प्रकार अस्तित्व में कुछ जोड़ने के लिये भी कहीं से कुछ लाया नहीं जा सकता क्योंकि अस्तित्व के बाहर कुछ है ही नहीं। यह अस्तित्व की पूर्णता है। इसलिये अस्तित्व की पूर्णता में कभी कुछ अन्तर नहीं आता। जो पूर्णता अस्तित्व की है वही मेरी भी है क्योंकि मेरा अस्तित्व से तादात्म्य सम्बन्ध है। उपनिषदों में 'यह सब कुछ ब्रह्म है', और 'मैं ब्रह्म हूँ' कहने का यही तात्पर्य है।

सारांश

सारी प्रार्थना के दो मुख्य फलितार्थ हैं। पहला फल यह है कि व्यक्ति में यह अहङ्कार न हो कि वह कुछ करता है, वह तो चेतन है जबकि कर्तृत्व जड़ प्रकृति में रहता है। अतः कर्तृत्व का अहङ्कार विमूढ़ता का सूचक है- अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते। प्रार्थना का दूसरा फल यह है कि क्योंकि सारे कर्म पूरे अस्तित्व द्वारा संचालित हैं इसलिये साधक सारे कर्म भगवदर्पण कर देता है। फिर वह किसी कर्म के शुभाशुभ होने की चिन्ता से मुक्त हो जाता है-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। गीता, 9.27

अर्थात् हे अर्जुन! तुम जो करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो देते हो और जो तप करते हो वह सब मुझे अर्पित कर दो।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनात्।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।। गीता, 9.28

अर्थात् इस प्रकार संन्यास योग से युक्त होकर तुम शुभ और अशुभ फल देने वाले कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाओगे और मुक्त होकर मुझे प्राप्त कर लोगे।

कोई क्रिया हमें बाँधती तब ही है जब उस क्रिया को हम अपनी क्रिया समझते हैं। जो क्रिया भगवान् को अर्पित कर दी जाती है, हम उस क्रिया के अच्छी-बुरी होने के दायित्व से मुक्त हो जाते हैं।

*****